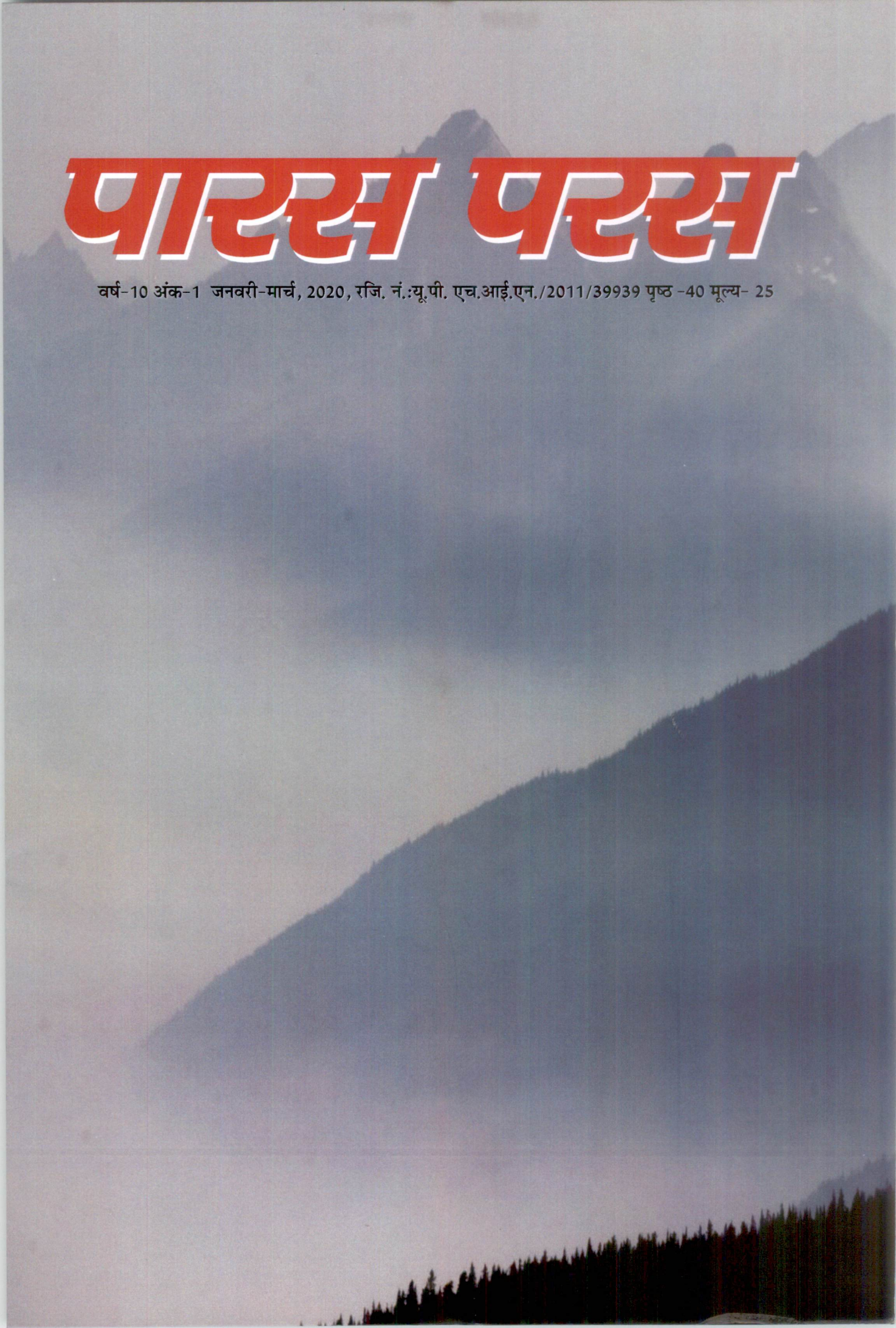

पारस परस

वर्ष-10 अंक-1 जनवरी-मार्च, 2020, रजि. नं.:यू.पी. एच.आई.एन./2011/39939 पृष्ठ -40 मूल्य- 25

सृजन स्मरण

श्रीधर पाठक

जन्म-11 जनवरी 1860 निधन-13 सितम्बर 1928

भारत हमारा कैसा सुंदर सुहा रहा है।
शुचि भाल पै हिमाचल, चरणों पै सिंधु–अंचल,
उर पर
विशाल–सरिता–सित–हीर–हार–चंचल,
मणि–बद्धनील–नभ का विस्तीर्ण–पट अचंचल,
सारा सुदृश्य–वैभव मन को लुभा रहा है।
भारत हमारा कैसा सुंदर सुहा रहा है।
उपवन–सघन–वनालि, सुखमा–सदन,
सुखाली
प्रावृट के सांद्र घन की शोभा निपट निराली,
कमनीय–दर्शनीया कृषि–कर्म की प्रणाली,
सुर–लोक की छटा को पृथिवी पे ला रहा है।
भारत हमारा कैसा सुंदर सुहा रहा है।

वर्ष : 10 अंक : 1 जनवरी-मार्च, 2020 रजि. नं. : यूपी एचआईएन/2011/39939

पारस परस

हिन्दी काव्य की विविध विधाओं
की त्रैमासिक पत्रिका

संरक्षक
डॉ. शम्भुनाथ

प्रधान संपादक
प्रो. सूर्यप्रसाद दीक्षित

संपादक
डॉ. अनिल कुमार

कार्यकारी संपादक
सुशील कुमार अवस्थी

संपादकीय कार्यालय
538 क/1324, शिवलोक
त्रिवेणी नगर तृतीय, लखनऊ
मो. 9935930783
Email: paarasparas.lucknow@gmail.com

लेआउट एवं टाइप सेटिंग
मेट्रो प्रिंटर्स
लखनऊ

स्वामी प्रकाशक मुद्रक एवं संपादक डॉ. अनिल कुमार द्वारा प्रकाश पैकेजर्स, 257, गोलागंज, लखनऊ उ.प्र. से मुद्रित तथा ए-1/15 रश्मि, खण्ड, शारदा नगर योजना, लखनऊ उ.प्र. से प्रकाशित।
सम्पादकः डॉ. अनिल कुमार

पारस परस में प्रकाशित रचनाओं में व्यक्त विचार संबंधित रचनाकारों के हैं। संपादक अथवा प्रकाशक का रचनाओं में व्यक्त विचारों से सहमत होना आवश्यक नहीं है। पत्रिका से संबंधित सभी विवाद लखनऊ न्यायालय के अधीन होंगे। उपरोक्त सभी पद मानद एवं अवैतनिक हैं।

अनुक्रमणिका

संपादकीय		2
श्रद्धा सुमन		
मात-पिता बिन सब रीता है	डॉ. अनिल कुमार	4
पुण्य स्मरण		5
कालजयी		
गोस्वामी तुलसीदास के प्रति	पारस नाथ पाठक 'प्रसून'	6
निशीथ चिंता	रामनरेश त्रिपाठी	7
देश-गीत	श्रीधर पाठक	8
ज्योति पर्व-ज्योति वंदना	नरेन्द्र शर्मा	9
समय के सारथी		
प्रतिबन्ध न स्वीकारो	नरेश कात्यायन	10
शब्द दुरंगी होते हैं	मधुकर अष्ठाना	11
चाँदनी रात हो	नन्द कुमार मनोचा	12
भावना सहज ही रामबाण	विजय शंकर शुक्ल	13
दो विकल्प	डॉ. बैजनाथ सिंह	14
जोड़ियाँ तो बनाता है रब	डॉ. गोपाल कृष्ण शर्मा	15
नेता जी सुभाषचन्द्र बोस	अशोक कुमार पाण्डेय	16
कलरव		
पेड़	डॉ. दिविक रमेश	17
पर्वत	सोहन लाल द्विवेदी	18
कोयल	सुभद्रा कुमारी चौहान	19
सुबह	श्रीप्रसाद	20
नारी स्वर		
सम्मोहन	ज्योत्स्ना मिश्रा	21
उसका जाना	देवयानी	22
पृथ्वी-कहाँ हो तुम	पूनम सिंह	23
याद रखना	मनीषा शुक्ला	24
बस्ते ही बचाते हैं	राजी सेठ	25
प्राणों के दीप जलाये	लीलावती भँवर सत्यक	26
खोखला आदर्शवाद	वंदना गुप्ता	27
पुकार	शीला तिवारी	28
देवदार	शीला पाण्डेय	29
मैं आवाज हूँ	स्मिता तिवारी	30
मैं बुद्ध होना चाहती हूँ	सत्या शर्मा कीर्ति	31
उद्‌बोधन		
यह है भारत देश हमारा	सुब्रह्मण्यम भारती	32
जिसे देश से प्यार नहीं हैं	श्रीकृष्ण सरल	33
नवोदित रचनाकार		
इस शहर में	हूबनाथ पांडेय	34
जीत रहे, जलते रहे	संजय तिवारी	35
कवि की विवशता	शशांक मिश्रा	36
गति	अशोक कुमार शुक्ला	37
अस्तित्व	राजीव रंजन	38
हमारी आँखें लुप्त हो रहीं हैं	रवि कुमार	39
सब कुछ नहीं होता समाप्त	मनीष मिश्र	40

आँख-कान सदैव खुले रखने चाहिए

गोस्वामी तुलसीदास जी ने रामचरित मानस के सुन्दरकाण्ड के एक प्रसंग का निम्नवत् वर्णन किया है :–

"बूझेसि सचिव उचित मत कहहू। ते सब हँसे मश्ट कर रहहू।।8।।
जितेहु सुरासुर तव श्रम नाहीं। नर बानर केहि लेखे माहीं।।9।।
सचिव, बैद, गुर तीनि जौं प्रिय बोलहिं भय आस।
राज धर्म तन तीनि कर होइ बेगिहीं नास।।37।।
सोई रावन कहुँ बनी सहाई। अस्तुति करहिं सुनाइ सुनाई।।1।।"

यह वर्णन रावण के प्रसंग में है जब रावण को सूचना मिली कि समुद्र के उस पार (श्री राम की) समस्त सेना आ गई है तो उसने इस सम्बन्ध में मंत्रियों से सलाह माँगी तो वे सब हँसे और बोले कि आप चुप–चाप होकर बैठिए। जब आप ने बिना श्रम के सुर–असुर (सभी) को जीत लिया तो इन नर और वानरों की क्या गिनती है ? सचिवों की इस प्रकार की गलत सलाह के सन्दर्भ में ही आगे वर्णित किया गया कि सचिव, वैद्य और गुरु यदि भयवश सही बात न बताकर केवल प्रिय लगने वाली बात बोलते हैं तो राज्य, शरीर और धर्म तीनों का शीघ्र विनाश निश्चित है। तत्समय यह सर्वविदित था कि रावण के अत्याचार और त्रास से समस्त प्राणी भयभीत थे, परेशान थे। यहाँ तक कि राक्षस कुल के भी बहुत से लोग आहत थे किन्तु रावण के भय से कोई उसके विरोध का साहस नहीं कर पाता था। ऐसी स्थिति में श्रीराम की संगठित सेना जिसमें अनेक महान योद्धा शामिल थे, के बारे में जानकारी होने के बाद भी रावण के सचिवगण जो अपने राजा रावण के द्वारा नियुक्त हैं, उसके ऋणी है और स्वयं को उसका हितैशी प्रदर्शित करते हैं किन्तु उसे सही सलाह नहीं दे रहे हैं बल्कि दिखावे के लिए उसका गुणगान कर रहे हैं। यद्यपि उक्त प्रसंग रावण के संदर्भ में आया है किन्तु यह प्रसंग सार्वभौमिक व सार्वकालिक है क्योंकि यदि सलाहकार और शुभचिन्तक भयवश, प्रलोभनवश या किसी अन्य स्वार्थ के वशीभूत होकर अपने दायित्व का सम्यक निर्वहन नहीं करते हैं तो निश्चित रूप से ऐसे व्यक्ति का विनाश अवश्यभांवी है। जैसे एक चिकित्सक या वैद्य भयवश या रोगी को प्रसन्न करने के लिए उसकी इच्छा के अनुरूप चिकित्सा करता है या माँगने पर कुपथ्य दे देता है तो उस रोग का निदान संभव नहीं हो पाएगा और अन्ततः शरीर का क्षय होना निश्चित है। इसी तरह समाज को सद्मार्ग दिखाने वाले गुरु अथवा श्रेष्ठजन किसी भी कारणवश सद्मार्ग से विचलित होने वालों का साथ देते हुए उन्हीं की इच्छा के अनुरूप मार्ग का निर्धारण करने लगते हैं तो निश्चित रूप से सामाजिक व्यवस्थाएं ध्वस्त हो जाती हैं और समाज भी पतन की ओर बढ़ता है।

यह परंपरा राजतंत्रों में प्रायः पायी जाती रही है। लोग राजाओं के निकटस्थ बने रहने के लिए उनकी प्रसंशा में अतिशयोक्ति का आश्रय लेते रहते थे। कभी–कभी इसे चारण गान भी कहा जाता रहा है और इसी से मिलता–जुलता एक वाक्यांश आज भी सुनायी पड़ता है,

'ठकुरसोहाती'। यहाँ 'ठकुर' से तात्पर्य ठाकुर यानि स्वामी से है जबकि 'सोहाती' से तात्पर्य भाने वाला या अच्छा लगने वाला यानि जो स्वामी को अच्छा लगे वही कहना और वही सुनाना। इससे स्वामी के निकट रहने में सहजता होती है और मनवांछित लाभ भी प्राप्त होते रहते हैं। राजतंत्रों के समाप्त होने के बाद वर्तमान व्यवस्था में भी उक्त प्रवृत्ति सहज दृश्य है क्योंकि तंत्र में बदलाव के बावजूद उसके मूल तत्वों में बहुत ज्यादा परिवर्तन नहीं होता है और वह सहस्रों वर्ष तक कमोवेश वैसे ही चलता रहता है। समाज में शक्ति व सत्ता की हमेशा पूजा होती रही है और हर व्यक्ति इसे पाना चाहता है या किसी न किसी रूप में इसके निकट पहुंचना चाहता है और यही कारण है कि आज भी ऐसे लोगों के महाजाल सत्ता व तंत्र के शीर्ष पर बैठे लोगों के इर्द–गिर्द बने हुए हैं फलस्वरूप शीर्ष पर बैठे व्यक्तियों के पास कोई बात इन 'ठकुर सोहाती' या 'चारणगान' करने वाले व्यक्तियों के माध्यम से ही पहुँचती है। इसीलिए प्रायः शीर्षस्थ व्यक्ति विभिन्न घटनाओं की वास्तविकता का साक्षात दर्शन नहीं कर पाते या इसका संज्ञान होने पर भी सही निर्णय नहीं ले पाते क्योंकि इनके निकटस्थ 'चारणगान' व 'ठकुरसोहाती' करने वाले लोग घटनाओं का वर्णन तथा उसकी व्याख्या अपने अनुसार यानि अपने लाभ के अनुसार कर देते हैं और फिर बातें वहीं की वहीं धरी रह जाती हैं।

ये सारी स्थितियाँ समाज के सर्वांगीण विकास, सामाजिक सौमनस्य एवं सौहार्द की दृष्टि से अत्यन्त घातक एवं बाधक है इसलिए सचिव, गुरु, वैद्य के साथ ही विभिन्न व्यवस्थाओं में लगे हुए व्यक्तियों को भी को अपने दायित्वों का निर्वहन तो करना ही चाहिए, जिससे उन्हें सच कहने में कोई भय न रहे और निर्भीक होकर संवाद कर सकें। इसी के साथ राजा यानि सत्ता के शीर्ष पर आसीन व्यक्तियों को भी अपने कर्तव्य का भान होना चाहिए तथा आँख–कान सदैव खुले रखने चाहिए। इन सभी के आचरण ऋग्वेद के इस सूक्त के अनुसार बन सकें :–

संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भाग यथा पूर्वे संजानाना उपासते।।(ऋग्वेद 10/191/2)

(हे प्रभो! आप हमें ऐसी बुद्धि दें कि हम सब परस्पर हिलमिल कर एक साथ चले। एक समान मीठी वाणी बोलें और एक समान हृदय वाले होकर स्वराष्ट्र में उत्पन्न धन–धान्य और सम्पत्ति को परस्पर समानरूप से बाँटकर भोगें। हमारी हर प्रवृत्ति राग–द्वेष रहित परस्पर प्रीति बढ़ाने वाली हो)

'पारस–परस का' यह अंक आप के हाथों में सौंपते हुए अत्यंत प्रसन्नता हो रही है। इस अंक के समस्त रचनाकारों, उनके परिजनों, प्रकाशकों एवं अन्य सभी सम्बन्धित के प्रति हार्दिक आभार प्रकट करते हुए आशा करते हैं कि आगे भी आप सभी का सहयोग यथावत मिलता रहेगा।

शुभ कामनाओं के साथ,

डा0 अनिल कुमार

मात-पिता बिन सब रीता है

- डॉ. अनिल कुमार पाठक

यह जीवन, उनका वरदान,
मेरे लिए वही भगवान,
पिता राम, माई सीता है।
मात–पिता बिन सब रीता है।।

त्याग, तपस्या के पर्याय,
नभ सम पिता, अवनि सम माय,
इक रामायण, इक गीता है।
मात–पिता बिन सब रीता है।।

जब तक थे ये साथ हमारे,
कभी नहीं किसी से हारे,
सबकुछ हमने ही जीता है।
मात–पिता बिन सब रीता है।।

जबसे छूटा उनका साथ,
हुआ अभागा और अनाथ,
दुःख में ही हर पल बीता है।
मात–पिता बिन सब रीता है।।

जीवन से खुशियाँ सब ओझल,
जीवन लगता कितना बोझल,
गंगाजल भी अब तीता है।
मात–पिता बिन सब रीता है।।

❖❖❖

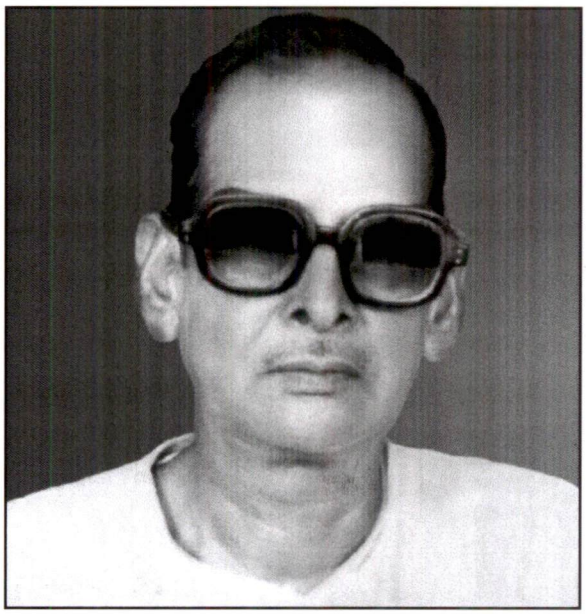

पं. पारस नाथ पाठक 'प्रसून'

जन्म– 17 जुलाई 1932
निधन– 23 जनवरी 2008

तुम अनादि हो, तुम अनन्त हो, दिग्दर्शक, प्रेरक, अरिहन्त।
अजर, अमर, हे प्राणतत्व! तुम, कण-कण में व्यापी बसन्त।।

शिक्षाविद् व हिन्दी कविता के सशक्त हस्ताक्षर **स्व0 पारस नाथ पाठक 'प्रसून'** का जन्म उत्तर प्रदेश के जनपद–जौनपुर के गोपालपुर ग्राम में गुरुपूर्णिमा को हुआ था। प्रारम्भिक शिक्षा स्थानीय विद्यालयों से प्राप्त करने के पश्चात उन्होंने इलाहाबाद विश्वविद्यालय, काशी विद्यापीठ, गोरखपुर विश्वविद्यालय तथा हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग से विभिन्न उपाधियाँ प्राप्त कीं। वे सर्वोदय विद्यापीठ इण्टर कालेज, मीरगंज, जौनपुर में हिन्दी विषय के प्रवक्ता पद पर कार्यरत रहे।

स्व. **'प्रसून'** की पावन स्मृति को अक्षुण्ण रखने के लिए **'पारस परस'** नाम से काव्य–त्रैमासिकी प्रकाशित करने का संकल्प लिया गया जो निर्बाध गति से चल रहा है।

स्वर्गीय 'प्रसून' जी की पुण्यतिथि पर विनम्र श्रद्धांजलि

❖❖❖

गोस्वामी तुलसीदास के प्रति

– पं0 पारसनाथ पाठक 'प्रसून'

तुम जगे, तो जग पड़ी थी आज दुनिया।

चेतना के त्राण जागे, साधना के प्राण जागे।
व्योम में था चन्द्र जागा, चाँदनी थी आज दुनिया।
तुम जगे, तो जग पड़ी थी आज दुनिया।।

कल्पना साकार होकर, भावना में ज्वार भरकर।
आ गया था कवि युगों का पा रही उपहार दुनिया।
तुम जगे, तो जग पड़ी थी आज दुनिया।

मेघ ने मल्हार गाया, व्योम में गुंजार छाया।
आ गया सम्राट जग में पा गई थी, राज दुनिया।
तुम जगे, तो जग पड़ी थी आज दुनिया।

फड़फड़ाकर पंख अपने, देखते थे, विहग सपने।
क्रान्ति का आह्वान करने चल पड़ी थी आज दुनिया।
तुम जगे, तो जग पड़ी थी, आज दुनिया।

व्योम कहता था कहानी, जागती थी रात रानी।
एक सौरभ के महक से खो रही थी लाज दुनिया।
तुम जगे, तो जग पड़ी थी आज दुनिया।

❖❖❖

निशीथ-चिंता

- रामनरेश त्रिपाठी

कम करता ही जा रहा है, आयु–पथ काल,
रात–दिन रूपी दो पदों से चल करके।
मीन के समान हम सामने प्रवाह के,
चले ही चले जा रहे हैं नित्य बल करके।

एक भी तो मन की उमंग नहीं पूरी हुई,
लिए कहाँ जा रही है, आशा छल करके।
निखर कढ़ेंगे क्या हमारे प्राण कंचन की,
भाँति कभी चिंतानल में से जल करके।

अपना ही नभ होगा, अपने विमान होंगे,
अपने ही यान जब सिंधु पार जायेंगे।
जन्म–भूमि अपनी को अपनी कहेंगे, हम,
अपनी ही सीमा हम आप ही रखायेंगे।

अपना ही तन होगा, अपना ही मन होगा,
अपने विभव का प्रभुत्व हम पायेंगे।
कौन जाने कब भगवान इस भारत के,
आगे हाथ बाँधे ऐसे प्यारे दिन आयेंगे।

❖❖❖

देश-गीत

- श्रीधर पाठक

जय जय प्यारा, जग से न्यारा,
शोभित सारा, देश हमारा,
जगत–मुकुट, जगदीश दुलारा,
जग–सौभाग्य, सुदेश।
जय–जय प्यारा भारत देश।

प्यारा देश, जय देशेश,
अजय अशेष, सदय विशेष,
जहाँ न संभव अघ का लेश,
संभव केवल पुण्य–प्रवेश।
जय–जय प्यारा भारत–देश।

स्वर्गिक शीश–फूल पृथिवी का,
प्रेम–मूल, प्रिय लोकत्रयी का,
सुललित प्रकृति–नटी का टीका,
ज्यों निशि का राकेश।
जय–जय प्यारा भारत–देश।

जय जय शुभ्र हिमाचल–शृंगा,
कल–रव–निरत कलोलिनि गंगा,
भानु–प्रताप–समत्कृत अंगा,
तेज–पुंज तप–वेश।
जय–जय प्यारा भारत–देश।

जग में कोटि–कोटि जुग जीवै,
जीवन–सुलभ अमी–रस पीवै,
सुखद वितान सुकृत का सीवै,
रहै, स्वतंत्र हमेश।
जय–जय प्यारा भारत–देश।

❖❖❖

ज्योति पर्व - ज्योति वंदना

- नरेन्द्र शर्मा

जीवन की अंधियारी
रात हो उजारी।
धरती पर धरो चरण
तिमिर–तम हारी।
परम व्योमचारी।

चरण धरो, दीपंकर,
जाये कट तिमिर–पाश।
दिशि–दिशि में चरण धूलि,
छाये बन कर–प्रकाश।
आओ, नक्षत्र–पुरुष,
गगन–वन–विहारी।
परम व्योमचारी।

आओ तुम, दीपों को,
निरावरण करे निशा।
चरणों में स्वर्ण–हास,
बिखरा दे दिशा–दिशा।
पा कर आलोक,
मृत्यु–लोक हो सुखारी।
नयन हों पुजारी।

❖❖❖

प्रतिबन्ध न स्वीकारो

– नरेश कात्यायन

रोशनी नहीं तुमसे देखी जाती,
क्यों सूरज के नजदीक चले आये।
जो खुली हवा से भी भयभीत रहे,
उनको झंझावातों में ले आये।

मेरा कोई अनुबन्ध न स्वीकारो,
कोई अभीष्ठ सम्बन्ध न स्वीकारो।
जो लगा दिये थे, मेरी साँसो पर,
वे अनुमोदित, प्रतिबंध न स्वीकारो।
मैं क्या स्वीकारूँ क्या परित्याग करूँ,
कोई मुझको भी आकर समझाये।

चर्चा मत करो हमारे भावों की,
अधरों पर मेरा नाम नहीं लाओ।
मैं आँसू का वंशज हूँ, आँखों से–
मेरा अस्तित्व धरा पर बिखराओ।
मुझ में थोड़ी सी पीड़ा संचित है,
कोई आकर इसको भी ले जाये।

अपना दर्पन क्या तुमको दिखलाऊँ,
तुमको अपनी छवि की पहचान नहीं।
तुम ध्यान कहाँ तक दोगे प्रियतम,पर–
जब तुमको अपनेपन का ध्यान नहीं।
मैं जैसा भी हूँ, पश्चाताप नहीं,
मुझको कोई जीना मत सिखलाये।

❖❖❖

शब्द दुरंगी होते हैं

- मधुकर अष्ठाना

हर शब्द तुरंगी होते हैं,
देशी भी, फिरंगी होते हैं।
कितना कोई सुखसाज रचे,
किनके–किनके खंजर से बचे।
अब चारों ओर शिकारी हैं,
बिखरी बस्ती में पंख नुचे।

चेहरे जो पीठासीन हुए,
बेढब हुड़दंगी होते हैं।
खोखली नींव निर्माणों की,
झूठी बुनियाद प्रयाणों की।
ऊपर हलचल बन्दूकों की,
भीतर है कथा कृपाणों की।

इस घर में सारे के सारे–
लगता अड़बंगी होते हैं।

माथे पर संयम की गाँठें,
दिनचर्या में थूकें–चाटें।
बँधकर अजनबी लकीरों से,
जो हाथ लगा किसको बाँटें।

चुभनों के साँचे पले–बढ़े–
दुख, साथी–संगी होते हैं।

❖❖❖

चाँदनी रात हो

– नन्द कुमार मनोचा

चाँदनी रात हो, प्यार की बात हो,
जिन्दगी यह सुहानी संभल जायेगी।

फूल टेसू के चारों तरफ हो खिले,
रूप की धूप में रंग गुलाबी मिलें,
नाचता फाग हो, गा रही राग हो,
धड़कनों की घड़ी यह बहल जायेगी।
चाँदनी रात हो, प्यार की बात हो।

स्वप्न के क़ाफ़िले मंजिलों से मिलें,
रास्ते ये कठिन साफ होते चलें,
संग तारे चले, ये बहारें चलें,
यह रवानी हवा की बदल जायेगी।
चाँदनी रात हो, प्यार की बात हो।

रस भरे यह नयन भीगते ही रहें,
प्रीत की बेल को सींचते ही रहें,
प्यास बढ़ती रहे, साँस हँसती रहे,
उम्र पुरवाइयों सी निकल जायेगी।
चाँदनी रात हो, प्यार की बात हो
जिन्दगी यह सुहानी सँभल जायेगी।

❖❖❖

भावना सहज ही रामबाण

- विजय शंकर शुक्ल

उन्चास पवन, छप्पन व्यंजन।।

जीवन संघर्षों का निकाय, जब व्याप्त चतुर्दिक हाय–हाय,
तब दैन्य–पलायन त्याग जूझ, यह सूझ–बूझ अन्तिम उपाय।
श्वासों की भाँति सजग सक्रिय को ही मिलता मधुवन जीवन।
उन्चास पवन, छप्पन व्यंजन।।

झंझावातों के घातों में, काली बरसाती रातों में,
बलवती लालसा जीने की, रहती अदम्य उत्पातों में।
कंचन–मृग जैसी चाहों में, दुर्दिन के पलते घन–गर्जन।
उन्चास पवन, छप्पन व्यंजन।

जीवन को जो स्वर देता है, सुख बाँट, दुःख हर लेता है,
कामद–तरु की टहनी का जो, रोपण कर बना विजेता है।
जिसमें अकूत संयम, उपाय में उसके जुड़ जाते जन–जन।
उन्चास पवन, छप्पन व्यंजन।

भावना सहज है रामबाण, चैतन्य बनें म्रियमाण प्राण,
धरती से नभ तक के पदार्थ, छूते ही हो उठते सप्राण।
शैशव–यौवन के आन्दोलन, के प्रतिबिम्बन का वह दर्पन।
उन्चास पवन, छप्पन व्यंजन।

जीवन का है श्रृंगार धूल, जो श्रम का है सात्विक दुकूल।
तब तेज प्रकट संघर्षों से, हिलता जब तन–मन चूल–चूल।
पौरुष का मति बल का मेरा, आश्रय ही मेरी रामायन।
उन्चास पवन, छप्पन व्यंजन।

❖❖❖

दो विकल्प

– डॉ. बैजनाथ सिंह

जीवित जन को एक फूल दो,
मृत को क्या जयमाल।
एक सुमन की सुरभि मनोहर,
प्रिय न अमित कंकाल।।

बड़े चाव से दिया स्नेह तो,
आत्मा उठती जाग।
उमड़ पड़ी सरिता मानस में,
उमड़ पड़ा अनुराग।

यदि उदास या दुःखी व्यक्ति को,
दें हम एक गुलाब।
मन से सेवा–विनत हृदय से,
वही रत्न अमिताभ।

प्रायःहम अतीत को ढोते,
कर पूजित पाषाण।
मानव और जीव कितने ही,
होते जब म्रियमाण।

अपने आस–पास हम देखें,
रहे न कोई म्लान।
मैत्री, करुणा प्रेम कर्म का,
करें पूर्ण सम्मान।

अपने को प्रसन्न रखने के–
दो विकल्प अवशेष।
स्वार्थ साधना में अतृप्ति है,
जन–हित, रहित कलेश।

❖❖❖

जोड़ियाँ तो बनाता है, रब

- डॉ. गोपाल कृष्ण शर्मा

यह धनुष तो बज्र का जैसे बना है,
टूटता ही नहीं,
फिर–फिर लौटते हैं जनक असफल थके हारे।

सिर झुकाये स्वयं से संवाद करते,
पूछते–क्यों बेअसर हो गये फिर से।
सगुन सारे।
लिए वन्दनवार
मालिन राह में मिलती कभी जब–
दृष्टि पृथ्वी पर गड़ाये बहुत तेजी से निकलते,
और बहुत उद्विग्न रहतीं उन दिनों हैं
आँख में आँसू मचलते।

पस्त होते हौसलों में भी निकल पड़ते पिता फिर
एक टूटी नाव ज्यों
तूफान मे खोजे किनारे।

रूप–रंग, कद, आयु, शिक्षा,
कुण्डली, कुल दक्षिणा–संकल्प क्या है ?
पूछते सब
और फिर कोई बहाना खोजकर,
कुछ वेदना के भाव दिखलाकर बताते।
जोड़ियों को तो बनाता है सदा रब।

बहुत पहले बताते थे
पर नहीं कुछ बोलते अब लौटने पर
पूछती माँ भी नहीं, केवल निहारे।

❖❖❖

नेता जी सुभाष चन्द्र बोस

– अशोक कुमार पाण्डेय

अन्तर में देशप्रेम का अपार पारावार,
आतताइयों को भय ग्रस्त कर देते थे।
नेता थे महान श्री सुभाष चन्द्र बोस, सदा–
हौसले फिरंगियों के पस्त कर देते थे।

शक्ति, शौर्य, साहस की तुलना मिली न कहीं,
अंगरेजी दम्भ–गढ़ ध्वस्त कर देते थे।
नष्ट कर देते थे कुचक्र–जाल शत्रुओं के,
भाग्य का सितारा शीघ्र अस्त कर देते थे।

नेता जी सुभाष चन्द्र बोस थे महान और,
दिव्य प्रतिभा के धनी, साहस की ढाल थे।
भय खाते गोरे, थे अकूत बल–विक्रम से,
आप के समक्ष चल पाते नहीं चाल थे।

परतन्त्रता का जाल काटने में सक्षम थे,
अक्षम दिखे न देश भक्ति की मिसाल थे।
चतुर, सुजान, गुणवान थे विवेकवान,
आन, बान, शान वाले भारत के लाल थे।

❖❖❖

पेड़

- डॉ. दिविक रमेश

अगर पेड़ भी चलते होते,
अगर पेड़ भी चलते होते,
कितने मजे हमारे होते,
बाँध तने में उसके रस्सी,
चाहे जहाँ कहीं ले जाते।

जहाँ कहीं भी धूप सताती,
उसके नीचे झट सुस्ताते,
जहाँ कहीं वर्षा हो जाती,
उसके नीचे हम छिप जाते।

लगती भूख यदि अचानक,
तोड़ मधुर फल उसके खाते,
आती कीचड़–बाढ़ कहीं तो,
झट उसके ऊपर चढ़ जाते।

अगर पेड़ भी चलते होते,
कितने मजे हमारे होते।

❖❖❖

पर्वत

– सोहनलाल द्विवेदी

पर्वत कहता शीश उठाकर,
तुम भी ऊँचे बन जाओ।

सागर कहता है लहराकर,
मन में गहराई लाओ।

समझ रहे हो क्या कहती हैं,
उठ, उठ गिर, गिर तरल तरंग।

भर लो, भर लो अपने दिल में,
मीठी–मीठी मृदुल उमंग।

पृथ्वी कहती धैर्य न छोड़ो,
कितना ही हो सिर पर भार।

नभ कहता है फैलो इतना,
ढक लो तुम सारा संसार।

❖❖❖

कोयल

– सुभद्रा कुमारी चौहान

देखो कोयल काली है,
पर मीठी है इसकी बोली,
इसने ही तो कूक–कूककर,
आमों में मिसरी घोली।

कोयल–कोयल सच बतलाओ,
क्या संदेशा लाई हो,
बहुत दिनों के बाद आज फिर,
इस डाली पर आई हो।

क्या गाती हो? किसे बुलाती?
बतला दो कोयल रानी,
प्यासी धरती देख माँगती,
क्या मेघों से पानी?

कोयल यह मिठास क्या तुमने,
अपनी माँ से पाई है,
माँ ने ही क्या मीठी बोली,
यह सिखलाई है।

डाल–डाल पर उड़ना–गाना,
जिसने तुम्हें सिखाया है,
सबसे मीठे–मीठे बोलो,
यह भी तुम्हें बताया है।

बहुत भली हो तुमने माँ की,
बात सदा ही मानी है,
इसीलिये तो तुम कहलाती,
हो सब चिड़ियों की रानी।

❖❖❖

सुबह

– श्री प्रसाद

सूरज की किरणें आती हैं,
सारी कलियाँ खिल जाती हैं।
अंधकार सब खो जाता है,
सब जग सुंदर हो जाता है।

चिड़ियाँ गाती हैं मिलजुल कर,
बहते हैं, उनके मीठे स्वर।
ठंडी–ठंडी हवा सुहानी,
चलती है जैसी मस्तानी।

यह प्रात की सुख बेला है,
धरती का सुख अलबेला है।
नई ताजगी, नई कहानी,
नया जोश पाते हैं प्राणी।

खो देते हैं आलस सारा,
और काम लगता है प्यारा।
सुबह भली लगती है, उनको,
मेहनत प्यारी लगती जिनको।

मेहनत सबसे अच्छा गुण है,
आलस बहुत बड़ा दुर्गुण है।
अगर सुबह भी अलसा जाये,
तो क्या जग सुंदर हो पाये।

❖❖❖

सम्मोहन

– ज्योत्स्ना मिश्रा

ना! इसे केवल दुख मत कहना!
ये जो अंदर से भरी गगरी सी, छलछलातीं हूँ,
जान बूझकर ही, अक्सर किसी जंगल में भटक जातीं हूँ!
ये केवल गम नहीं है, सखी!
ये जो कुछ भी है केवल व्यथा नहीं है,
न कह पायी गयी कोई कथा नहीं है।
मैं जो उड़ते, उड़ते तेरे काँधे पर बैठ जातीं हूँ,
तो ये मात्र थकान का उतरना नहीं।
ज्वार का ठहरना नहीं।
ये जो बंद गलियों में निरुत्तर भटकते प्रश्न,
लौट, लौट आते हैं।
और मेरी हथेलियाँ किसी भीगे स्वप्न को,
सहम के छोड़ देती हैं।
और अनायास ही हवाएँ,
फूल का अनदेखा सपना तोड़ देतीं हैं।
ये शताब्दियों की सिहरन,
थरथराते हुए पलों का पराग की तरह, बिखर जाना।
वक्त की चमड़ी फट जाती है।
अरण्य–सा विस्तार लिये,
पहाड़ों जैसा मौन उभर आना।
सदियों के सन्नाटे क्या केवल दुख होते हैं?
पपड़ाये होंठ लिये एहसास केवल सिसकी बोते हैं ?
नहीं ये दुख नहीं दुख का भ्रम होता है,
ये प्रेम के जाने के बाद का पल,
जीवन के अद्भुत सम्मोहन से बाहर आकर
फिर मोहित होने का क्रम होता है।

❖❖❖

उसका जाना

- देवयानी

एक दिन बोली वह
अच्छा अब चलती हूँ,
और चली गई दूर कहीं।

कई दिनों तक नहीं हुई हमारी मुलाकात,
शुरू में मैं समझती रही,
ऐसे भी कोई जाता होगा भला,
लौट आएगी यूँ ही किसी दिन।
राह चलते
लौटते हुए घर,
धुले हुए कपड़ों की तह लगाते–
मिल जायेगी, झाँकती देहरी से।

भर लेगी बाँहों में,
धर देगी आँखों पर कोमल हाथ–
और पूछेगी बताओ कौन?

आह्लादित मैं चहक उठूँगी
कविता!
कहाँ रही तुम इतने दिन?

किंतु जब नहीं लौटी वह,
कई महीनों, बरसों तक,
मैंने चाहा कई बार,
ढूँढ़ा उसे कई जगह,

अब मिलती भी है तो पहचानी नहीं जाती,
क्या यह तुम ही हो कविता?

❖❖❖

पृथ्वी- कहाँ हो तुम

- पूनम सिंह

लंबे समय से प्रतिकूल लहरों के बहाव में हूँ।
नहीं जानती पानी का यह रेला–
कहाँ बहा ले जायेगा मुझे।
विकराल जल प्रपातों की उत्ताल लहरों पर–
मैं चित पड़ी हूँ या पट।
मुझे नहीं मालूम
मेरी आखों के सामने,
न कोई वस्तु है, न विचार,
न प्रतिकार है, न स्वीकार।
बस कोहरे का एक समुद्र है,
जिसका न कोई ओर है न छोर।

निष्क्रिय आवेग से भरी मेरी चेतना में,
शत्–शत् सूर्य के तिरोहित होने का
नीला अंधकार व्याप्त है।
आकाश गंगा में डूब गये हैं
रुपहले नक्षत्र।
रूप, रंग, रस, गंध से भरी पृथ्वी
कहाँ हो तुम ?

ओ मेरी आत्मा की राग भरी रोशनी
कहाँ हो तुम ?
धरती का धीरज लेकर
गहन गुह्यलोक में–
विस्थापित मेरी चेतना
तुम्हें टेर रही है।
पृथ्वी – पृथ्वी – पृथ्वी
कहाँ हो तुम ?

❖❖❖

याद रखना

– मनीषा शुक्ला

अब हमारी याद में रोना मना है,
याद रखना!

हम तुम्हें उपलब्ध थे, तब तक सरल थे, जान लो,
प्रश्न अनगिन थे तुम्हारे, एक हल थे, जान लो।
एक पत्थर पर चढ़ाकर देख लो जल गंग का,
हम तुम्हारे प्रेम में कितने तरल थे, जान लो।
प्रेम में छल के प्रसव की पीर पाकर,
बालपन में मर चुकी संवेदना है।
याद रखना!

हम हुए पातालवासी इक तुम्हारी खोज में,
प्राण निकलेंगे अभागे एक ही दो रोज में।
साध मिलने की असंभव हो गई है, जानकर,
भूख के मारे अनिच्छा हो गई है, भोज में।
पूर्ति के आगार पर होती उपेक्षित,
बन चुकी हर इक जरूरत वासना है।
याद रखना!

जो प्रमुख है, वो विमुख है, बस नियति का खेल है,
पटरियाँ अलगाव पर हों, दौड़ती तब रेल है।
जानकर अनजान बनना चाहता है, मन मुआ,
छोड़ चंदन, ज्यों लिपटती कीकरों से बेल है।
भूल के आग्रह बहुत ठुकरा चुका है,
कुछ दिनों से मन बहुत ही अनमना है।
याद रखना!

❖❖❖

बस्ते ही बचाते हैं

- राजी सेठ

दरवाजे खुल चुके थे,
तकिये पर काढ़े हुए फूल
बाहर निकल चुके थे।
पतीली में खदबदाता पानी
पेंदे तक पहुँच चुका था,
तल्खी के उच्छ्वास से
पीला सोना पिघल रहा था।
आँगन की धुँआस से
हवा घुट चुकी थी।
सप्तपदी पलट रही थी,
पड़ौसी पंखे पकड़ चुके थे,
हितैषी आँखें ढक चुके थे।
गालों पर गुलाब
रक्त की ताजी गंध वाले हाथ,
पाँवों में छलांग
कंधे का बस्ता
उसने खूँटी पर लटकाया,
और दरवाजा बंद किया।

❖❖❖

प्राणों के दीप जलाये

- लीलावती भँवर सत्यक

प्राणों के दीप जलाये, कब से पथ हेर रही हूँ,
भावों के सुमन मनोहर सब आज बिखेर रही हूँ।
श्वासों की धूप बनाकर जीवन नैवेद्य बनाया,
तव चरणों की पूजा को मैंने है, साज सजाया।
आओ, चिर–संचित मेरी यह साध पूर्ण होने दो,
निज पद–रज में हे प्रियतम! अपना मन खोने दो।
फुलवारी में मैं आई, लख उषा का मुसकाना,
फिर देखा ओस–बिन्दु पुष्पों का अश्रु गिराना।
नर्तन लख मुग्ध शिखी का मैंने नभ ओर निहारा,
निष्प्रभ नीरद–बाला के नयनों से छुटा छुआरा।
नभ छाना, पृथ्वी खोजी, पर चिन्ह न कुछ भी पाया,
हा! आज बिलखती–रोती मेरी आशा की छाया।
कर चूर्ण सभी अभिलाषा ये प्राण उन्हें ध्यावेंगे,
दूँगी अस्तित्व मिटा निज, फिर देव स्वयं आवेंगे।
जग के झूठे वैभव को, फिर देव स्वयं आवेंगे।
कुम्हलाये आशा–कुसमों से, पुनः न अंक भरूँगी मैं।
रोम–रोम में रमो तुम्हीं नित–नाम तुम्हारा ही गाऊँ,
इच्छा है बस यही, तुम्हारे–चरणों की रज बन जाऊँ।
देकर दर्शन चाहे प्रियवर, तुम हमको कृतकृत्य करो,
अथवा रहकर दूर–दूर ही, नित्य हृदय को व्यथित करो।
इच्छा हो तो जी भरकर तुम, नित मेरा अपमान करो,
अथवा होकर सदय प्रेममय, प्रकट मधुर मुसकान करो।
दुख देने में सुखी रहो यदि, तो तुम नित नव दुख देना,
किन्तु न स्वत्व हमारा तुम यह, हमसे कभी छीन लेना।
होगा म्लान नहीं मुख मेरा, चाहे जो व्यवहार रहे,
रक्खूँगी मैं मनमन्दिर में, पूजा का अधिकार रहे।

❖❖❖

खोखला आदर्शवाद

- वंदना गुप्ता

ये वर्ष का सबसे नग्न समय था,
जब आसमां की छाती पर जलता अलाव धधक रहा था।
और धरती का सीना चाक–चाक।

तो क्या हुआ जो
हैवानियत के नंगे नाच पर
नहीं हुआ बवाल।

ये इस समय की दरिंदगी नहीं
दरियादिली है।
कसमसाओ, जलो, भुनो या चीखो,
समय दर्ज कर रहा है हर इबारत।
अपने सुभीते से ही बदला जाता है, नक्शा।

फिर मौसम बदलने को जरूरी नहीं शहर बदले ही जायें,
बेतरतीब इबारतें काफी हैं,
दर्ज करने को इतिहास।

तो क्या हुआ जो–
जेठ की तपती धूप में कम्बल ओढ़ सो रहा है शमशान।

जिंदा जमीर महज खोखला आदर्शवाद है आज,
फिर स्त्री और देश की दशा दुर्दशा पर चिंतन कौन करे।
एक प्रश्न ये भी उठाया तो जा सकता है,
मगर हल के कोटर हमेशा खाली ही मिलेंगे।

ये पंछियों के उड़ने और दाना चुगने का वक्त है,
जाओ तुम अपना दर्शन कहीं और बखान करो।
गिद्ध गिद्दा कर रहे हैं।

❖❖❖

पुकार

- शीला तिवारी

एक सुर में राग ये छिड़ने दे,
मुझको मलिन मत होने दे।
बहने दे, बहने दे मुझे,
अविरल–अविरल बहने दे।
मैं गंगा....।
बाँध–पे–बाँध बना डाला,
अवरुद्ध हुई मेरी धारा।
धीरे–धीरे सिमट रही,
कुंठित प्रदूषित तड़प रही।
मेरे नीर को मलिन मत होने दे।
स्वछन्द पवन संग लहर–लहर गति करने दे।
बहने दे, बहने दे,अविरल–अविरल बहने दे।
मैं गंगा ....।
जलचर जीवन खो रहे,
मेरे तट जल बिना रो रहे।
दूषित नीर को झेलती,
ऐ मनुष्य! पापों को तेरी धोऊँ क्या ?
अभिशप्त सी हो रही,
मुझको मलिन मत होने दे।
उच्छश्रृंखलता से पर्वत नदी से लहर–लहर गति करने दे।
बहने दे, बहने दे, अविरल–अविरल बहने दे।
मैं गंगा ....।।
धरती पर स्वर्ग मैं लायी हूँ,
अलौकिक रूप दिखाती हूँ।
दीपों से मुझे पूँजे तू,
ऐ मनुष्य ! फिर मेरी पीड़ा न बूझे तू।
मानव हित में सदा सोची,
हाहाकार रही, चित्कार रही।
मुझको मलिन मत होने दे,
ले प्रण! मुझे निर्मल–निर्मल बहने दे।
एक सुर में राग ये छिड़ने दे,
मुझको मलिन मत होने दे,
बहने दे, बहने दे, अविरल–अविरल बहने दे।
मैं गंगा...।

❖❖❖

देवदार

- शीला पाण्डेय

गिरि को दाबे अड़ा खड़ा नभ–
में विशाल बहुखंडी,
हवा, फूल, फल, छाँव, बटोरे
पर्वत के सिर झंडी।

बोओ, रोपो, सींचों, पालो,
आस किसे है पगले!
स्वाभिमान का पौरुष तन में,
पाल–पोष कर रख ले।

आसमान की छतरी ताने
देवदार की डंडी।।

काली, धूसर, पीली साड़ी
रैन, दिवस, गह भोरे,
अदल–बदल के पहन उतारे
चोर कहाँ से छोरे!

हरी चीर में प्राण बसे
आँचल नीचे पगडण्डी।।

है बुजुर्ग–सा बैठा गिरि पर
अनुभव, हुनर बढ़ाता,
भारत की अगुवानी करता
श्रद्धा फूल चढ़ाता।

जनम–जनम का देवदार
घर, औषधि, कागज मंडी।।

बूँद–बूँद सब भाप बटोरे
पगड़ी धरता जाये।
हौले–हौले तभी निचोड़े
नीर बरसता जाये।

शीतल बौछारें वर्षा की
फहराता है ठंडी।।

❖❖❖

मैं आवाज हूँ

- स्मिता तिवारी

रोकोगे मुझे
कितना ....?
और कब तक?
पता है
मैं कौन हूँ?
हाँ,मैं आवाज हूँ।
कहीं से भी निकल सकती हूँ,
कहीं से मतलब कहीं से भी...
कभी किसी पीड़ित की चीख से,
कभी शोषित लोगों के आक्रोश से।
कभी भीड़ से भी,
तो कभी खामोशी से भी।
कभी अखबार से,
कभी लेखक की लेखनी से।
कभी कविता के उच्छवास से,
कभी प्रलय के हाहाकार से।
हाँ तुम रोक न पाओगे
क्योंकि जब तुम चुप भी हो गए न–
तब मैं उस चुप्पी में भी गूँजती रहूँगी
क्योंकि मैं आवाज हूँ।
कहीं से भी निकल सकती हूँ।

❖❖❖

मैं बुद्ध होना चाहती हूँ

- सत्या शर्मा कीर्ति

पाती हूँ अकसर,
लेते है बुद्ध जन्म
मेरे भी अंदर।
और फिर उठते हैं कई सवाल
मन की कंदराओं में।

जानना चाहती हूँ–
सत्य, अहिंसा, शील, ज्ञान–
की असीमित सी बातें,
जन्म मृत्यु के रहस्यों की
ज्ञानमयी बातें।

जरा मरण के चक्र से परे की–
अनगिनत बातें जानना चाहती हूँ।
बचपन, यौवन, बुढापे के–
चक्र को समझना चाहती हूँ।

मैं बुद्ध नहीं हूँ,
पर बुद्ध होना चाहती हूँ।

पर ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों के–
पकड़ से छूटता मेरा मन
मोह माया के जंजीरे तोड़
नहीं पाता।
और अकसर बुद्ध को सुला
सांसारिक सुख की मृगतृष्णा में
स्व की पहचान ढूँढ़ने लगती हूँ।

पर पुनः किसी रात की नीरवता में–
जाग जाते हैं फिर नन्हें बुद्ध
करते हैं सवाल।
जीवन के सत्य और माया से
जुड़े अनेको प्रश्न।

❖❖❖

यह है भारत देश हमारा

सुब्रह्मण्यम भारती

चमक रहा उत्तुंग हिमालय, यह नगराज हमारा ही है।
जोड़ नहीं धरती पर जिसका, वह नगराज हमारा ही है।
नदी हमारी ही है गंगा, प्लावित करती मधुरस धारा,
बहती है क्या कहीं और भी, ऐसी पावन कल–कल धारा?

सम्मानित जो सकल विश्व में, महिमा जिनकी बहुत रही है
अमर ग्रन्थ वे सभी हमारे, उपनिषदों का देश यही है।
गाएँगे यश हम सब इसका, यह है स्वर्णिम देश हमारा,
आगे कौन जगत में हमसे, यह है भारत देश हमारा।

यह है भारत देश हमारा, महारथी कई हुए जहाँ पर,
यह है देश मही का स्वर्णिम, ऋषियों ने तप किए जहाँ पर,
यह है देश जहाँ नारद के, गूँजे मधुमय गान कभी थे,
यह है देश जहाँ पर बनते, सर्वोत्तम सामान सभी थे।

यह है देश हमारा भारत, पूर्ण ज्ञान का शुभ्र निकेतन,
यह है देश जहाँ पर बरसी, बुद्धदेव की करुणा चेतन,
है महान, अति भव्य पुरातन, गूँजेगा यह गान हमारा,
है क्या हम–सा कोई जग में, यह है भारत देश हमारा।

विघ्नों का दल चढ़ आए तो, उन्हें देख भयभीत न होंगे,
अब न रहेंगे दलित–दीन हम, कहीं किसी से हीन न होंगे,
क्षुद्र स्वार्थ की ख़ातिर हम तो, कभी न ओछे कर्म करेंगे,
पुण्यभूमि यह भारत माता, जग की हम तो भीख न लेंगे।

मिसरी–मधु–मेवा–फल सारे, देती हमको सदा यही है,
कदली, चावल, अन्न विविध अरु क्षीर सुधामय लुटा रही है,
आर्य–भूमि उत्कर्षमयी यह, गूँजेगा यह गान हमारा,
कौन करेगा समता इसकी, महिमामय यह देश हमारा।

❖❖❖

जिसे देश से प्यार नहीं हैं

- श्रीकृष्ण सरल

जिसे देश से प्यार नहीं हैं,
जीने का अधिकार नहीं हैं।

जीने को तो पशु भी जीते,
अपना पेट भरा करते हैं।
कुछ दिन इस दुनिया में रह कर,
वे अन्ततः मरा करते हैं।
ऐसे जीवन और मरण को,
होता यह संसार नहीं है।
जीने का अधिकार नहीं हैं।

मानव वह है स्वयं जिए जो–
और दूसरों को जीने दे,
जीवन–रस जो खुद पीता वह–
उसे दूसरों को पीने दे।
साथ नहीं दे जो औरों का,
क्या वह जीवन भार नहीं है?
जीने का अधिकार नहीं हैं।

साँसें गिनने को आगे भी–
साँसों का उपयोग करो कुछ,
काम आ सके जो समाज के,
तुम ऐसा उद्योग करो कुछ।
क्या उसको सरिता कह सकते,
जिसमें बहती धार नहीं है?
जीने का अधिकार नहीं हैं।

❖❖❖

इस शहर में

- हूबनाथ पांडेय

अब इस शहर में कोई
भूखा नहीं सोयेगा।
सबको मिलेगी
दो वक्त की रोटी।
सिर पर छत,
हाथों को रोजगार,
आँखों को सपने।
साफ–सुथरी सड़कों पर,
हवा से बातें करेंगी गाड़ियाँ।
फ्लाइओवर ब्रिज जोड़ेंगे
शहर के एक छोर को दूसरे से
धरती, आसमान, पानी पर दौड़ेंगी कारें,
मिनटों में पहुँचेंगे
एक सिरे से दूसरे तक।
बगीचे फूलों से खिलखिलाते
तालाब कमलों से गदराये।
फुटपाथ भिखारियों से खाली,
रेलवे स्टेशन चमचमाते,
बस अड्डे जगमगाते।
सुंदरियाँ बाजारों में इठलातीं,
बालाएँ रैम्प पर बलखाती।
गलियाँ कुत्तों–गायों से मुक्त।
मंदिर–मस्जिद भक्तों से भरे,
भक्त भक्तिभाव से भरे।
बैंक धन से भरे,
सेंसेक्स अंकों से भरे।
कहीं भी
इस शहर में
कोई भूखा
नहीं सोयेगा।
क्योंकि भूखों के लिए
इस शहर के बाहर
एक दूसरा शहर
बसाया जा रहा है।
वैसे भी
भूखों को नींद कहाँ आती है।

❖❖❖

जीते रहे, जलते रहे

- संजय तिवारी

घट वही, पनघट वही, आहट वही, चाहत वही,
साँसें वही, आहें वही, चाहें वही, आदत वही।
उन्मुक्ति सम, आसक्ति कम, यादें वही,मन्नत वही,
अल्हड़ नदी जब बह चली, धड़कन वही, जन्नत वही।

वह संदली से देह धुन या गंध पावन सी लगी,
वह कौतुकी थिरकन बनी, वह मेघ सावन सी लगी।
वह गेसुओं की लट तुम्हारी, झूमती नागिन दिखी,
गज सी गमन की हंसिनी की राह आवन सी दिखी।

मह–मह महकती खुशबुओं की शाम की खुशबू रही,
जो चाह की मंजिल रही, जो प्यार का साहिल सही।
जो वेग पाकर बह चली, धारा तरल गंगा बनी,
खुशबू वही तो जिंदगी, हर साँस में बसती रही।

हाँ! जिंदगी ही है नदी,बहती रहे, बढती रहे,
गति में अगम, गम में गती, चढ़ती रहे, चलती रहे।
साहिल अनन्तर,सम चलें, चलते रहे, पर बिन मिले,
जीवन यही, आकार बन, जीते रहे, जलते रहे।

❖❖❖

कवि की विवशता

– शशांक मिश्रा

तुम ही कहो ना, क्या करता मैं?
जो करना था, ना हो सका मुझसे।
जिसने जमाई यह दुनियाँ,
जिसने टाँका तुम्हारे माथे पर।
मानव होने का अभिशाप।
जिसने साँस भरी तुममें।
वो भी ना कर सका कुछ।
बोलो मैं क्यों ना भागता?

अरे बचा ही क्या होने को,
सिवाय राख के,
कहो न क्या बचा है खोने को,
सिवाय शाख के।
क्यों उगे बीज,
जब उसे बाँझ ही होना है।
क्यों संचालित हो सृष्टि
तुम्हारे लिए?

मैं भाग निकला, कल नहीं सो आज।
नहीं कर सकता मैं गड्ड–मड्ड।
क्या छूटा तुमसे जो बचा रहा,
सिवाय इक्कीसवीं सदी के।

❖❖❖

गति

- अशोक कुमार शुक्ला

अंधेरे सीलन भरे कमरे से
आज फिर निकाल लिया गया है–
एक पुराना टायर–
जिसे फिर से लगा दिया गया है
व्यवस्था के जंग भरे वाहन में।
फिर से दिखी है आज
पंचर जोड़ने वाले
कारीगरों के चेहरे पर चमक।
पुराना घिसा पिटा टायर
आखिर कब तक चलेगा ?
जल्दी ही पंचर होगा
और पंचर टाँकने के बहाने ही सही
कुछ तो चलेगी उनकी दुकान।
यह सत्य तो
किसी ने देखा भी नहीं कि
बस यूँ हीं
मंथर किन्तु अविचल चाल से
हमेशा ही चलता रहता है–
समय का पहिया।
जिसमें कभी पंचर नहीं होता।
और इसी के घूमने से आता है,
पतझड, सावन और बसंत।

❖❖❖

अस्तित्व

– राजीव रंजन

थकी–थकी सी धूप
तरुवर पर आ टिकी।
कर रही है इंतजार साँझ का
दिन भर बाँटती रही
परछाई गैरों को।
अस्तित्व निखारती रही गैरों का।
ढूँढ़ती रही पहाड़ों पर, जंगलों में,
झरनों में, खेत–खलिहानों में,
ऊँची इमारतों में, चिकनी काली–
सड़कों पर या गर्द–गुब्बार उड़ाती गलियों में।
खोज न पायी साया अपना
साथ निभाने वाला,
अस्तित्व हमारा भी है
यह जताने वाला।
अब धूप की छाया बन
साँझ उतर आयी है।
पर इस परछाई में अस्तित्व
बचा कहाँ धूप का।
थकी–हारी सी धूप आखिर
अपना अस्तित्व हार गयी।

❖❖❖

हमारी आँखें लुप्त हो रही हैं

- रवि कुमार

हम एक अंधेरी खान में जी रहे हैं।
हम कई घंटों तक
रोजी–रोटी की आपाधापी में रहते हैं।
सोते हैं कई घंटे
बाकी समय में–
खुद को उलझाये रखने के लिए
हमने कई साजोसामान जुटाए हुए हैं।

हम उलझे रहते हैं।
हम इतना व्यस्त रहते हैं कि
खान के मुहानों के बारे में सोचने की
हमें फुर्सत नहीं रहती।
और ना ही खान के मुहाने टटोलने
लायक
ऊर्जा ही हममें शेष बचती।

हम अंधेरे को ही
अपनी नियति समझने लगे हैं,
और खोजते रहते हैं शास्त्रों में
अंधेरे की सनातनता।

हम कोशिश करते हैं कि
हम रोशनी के मायने भी भूल जायें
दरअसल
अंधेरा हमारे अन्दर
इतना गहरा पैठ गया है–
कि हम जुगनुओं से भी भय खाते हैं।
जरा भी रोशनी हमें बर्दाश्त नहीं होती

अंधेरा हमारे जीवन की
अनिवार्यता होता जा रहा है।
हम खुद–ब–खुद
अंधेरा होते जा रहे हैं।

चूँकि अंधेरे में
इनकी कोई आवश्यकता नहीं होती
हमारी आँखें
लुप्त हो रही हैं, धीरे–धीरे।

❖❖❖

सब कुछ नहीं होता समाप्त

- मनीष मिश्र

सब कुछ थोड़े ही सूख जाता है।
बच ही जाती है स्मृति की नन्ही बूँद।
मिल ही जाता है प्रिय का लगभग खो गया पता,
अलगनी में सूखते हुए कपड़ों पर बच ही जाती है
देह–गंध की नम आँच।
पाँयचे के घुटनों पर रेंग ही आती है मुलायमियत।

सब कुछ थोड़े ही खत्म हो जाता है,
मृत्यु के बाद भी बचे रहते हैं अस्थि फूल।
सूखे जलाशय के तलछट में जीवित रहती है एक अकेली मछली,
विशाल मरुस्थल की छाती पर सूरज के खिलाफ
लहराता है खेजरी का पेड़।

सब कुछ नहीं होता समाप्त।
हमारे बाद भी बचा रहता है जीने का घमासान।
भूख के बावजूद बच ही जाते हैं थाली में अन्न के टुकड़े,
निकल ही आता है पुराने संदूक से जीर्ण होता प्रेम–पत्र।
सबसे हारे क्षणों में मिल ही जाता है दोस्त ठिकाना।

सब कुछ थोड़े ही मिट पाता है।
उम्र के बावजूद भी बचे रहते है देह पर प्रेम–निशान,
जीवन के सबसे मोहक क्षणों में भी चिपका रहता है बीत जाने का भय।
सब कुछ नहीं होता समाप्त।

❖❖❖

सृजन स्मरण

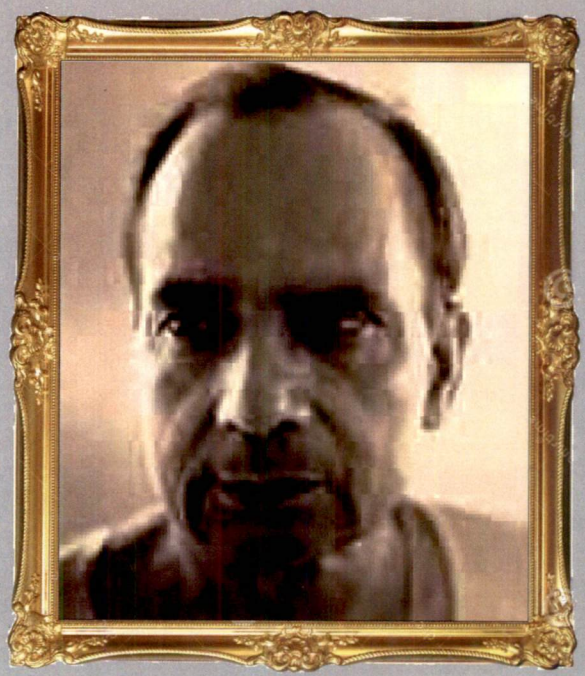

नरेन्द्र शर्मा

जन्म-28 फरवरी, 1913 निधन-11 फरवरी, 1989

मेरा चंचल मन भी कैसा, पल में खिलता, मुरझा जाता।
जब सुखी हुआ सुख से विह्वल, जब दुःखी हुआ दुःख से बेकल,
वह हरसिंगार के फूलों सा सुकुमार सहज कुम्हला जाता।
फूला न समाता खुश होकर, या घर भर देता रो–रोकर,
या तो कहता, दुनिया मेरी, या जग से मेरा क्या नाता।
मेरे मन की यह दुर्बलता, सामान्य नहीं निज को गिनता,
वह अहंकार से उपजा है, इसलिए सदा रोता–गाता।
मैंने बहुतेरा समझाया, मन अब तक समझ नहीं पाया,
वह भी मिट्टी से ही निकला, फिर मिट्टी ही में मिल जाता।

राम नरेश त्रिपाठी

जन्म 04 मार्च 1881 निधन 16 जनवरी 1962

जहाँ स्वतंत्र विचार, न बदले मन में, मुख में,
जहाँ न बाधक बनें सबल, निबलों के सुख में।

सब को जहाँ समान निजोन्नति का अवसर हो,
शांतिदायिनी निशा हर्ष सूचक वासर हो।

सब भाँति सुशासित हों जहाँ
समता के सुखकर नियम।
बस, उसी स्वतंत्र स्वदेश में
जागें हे जगदीश! हम।